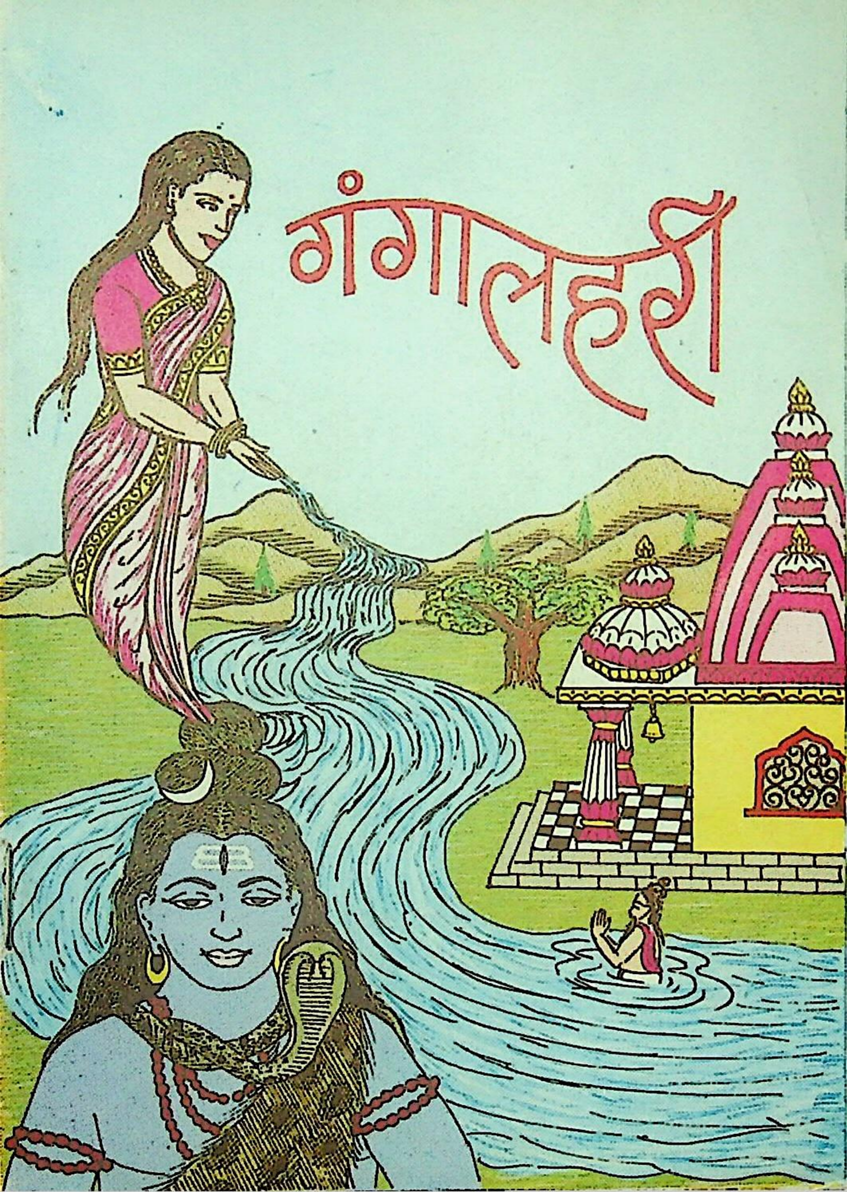

गंगालहरी

श्रीः

पण्डितराज जगन्नाथविरचित–

गंगालहरी

आगरानिवासी पं० राधाकृष्णशर्मकृत सान्वय, भाषानुवाद, रामगढ़निवासी सम्प्रति मथुरास्थ सेठ कन्हैयालाल पोद्दाररचित समश्लोकी हिन्दीपद्यसहित.

मुद्रक एवं प्रकाशकः

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,

खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, मुंबई – ४०० ००४.

संस्करण : मार्च २०१४, संवत् २०७०

मूल्य : २० रुपये मात्र

मुद्रक एवं प्रकाशक:

खेमराज श्रीकृष्णदास,™

अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,

खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,

मुंबई - ४०० ००४.

Printers & Publishers
Khemraj Shrikrishnadass
Prop: Shri Venkateshwar Press
Khemraj Shrikrishnadass Marg,
7th Khetwadi, Mumbai - 400 004.

Web Site : http://www.khe-shri.com
E-mail : khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj for M/s Khemraj Shrikrishnadass
Prop. Shri Venkateshwar Press, Mumbai-400004,
at their Shri Venkateshwar Press, 66 Hadapsar Industrial Estate,
Pune -411 013.

प्रस्तावना

प्रिय पाठकवृन्द !

पण्डितराज जगन्नाथजीसे परिचित करानेके लिये यहां विस्तारपूर्वक लिखना अनावश्यक है। क्योंकि पश्चिमीय विज्ञान प्रभावसे मुद्रालयोंके अधिक प्रचार होजानेका कारण इस समय इनके अप्रतिम प्रतिभाके उदाहरण "रसगंगाधर" प्रभृति कई लोकोत्तर ग्रंथ संस्कृतसाहित्यमें सब लोगोंके समक्ष विद्यमान हैं।

किन्तु जिस समय मुद्रालयोंका नितान्त अभाव था एवम् "रसगंगाधर" आदि इनके महान् लोकोत्तर साहित्य ग्रंथ संसारमें सर्वसाधारण लोगोंके दृष्टिगत नहीं होने लगे थे उस समय इनकी यशपताका आबालवृद्ध समाजके दृष्टिपथ करानेवाली केवल "गङ्गालहरी" ही थी। इसी एक छोटेसे काव्यसे कालप्रभावसे मुरझाई हुई पण्डितराजकी कीर्त्तिलताको पुनः अंकुरित और प्रफुल्लित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुवा था। अवश्यही यह एक छोटा सा काव्य है। किन्तु छोटा होनेसेही क्या ? इसका प्रणेता तो बड़ा भारी मोटा है। पण्डितराजके काव्य क्या छोटे और क्या बड़े ? सभी वस्तुतः बड़े आह्लादक हैं इनके काव्यमें अर्थगौरव और पदलालित्य होनेकी चरमसीमा होनेके साथ सरलताका होना सुवर्णमें सौरभ है।

"गङ्गालहरी" में पण्डितराजका श्रीगंगाविषयक निःसीम आंतर्य भाव स्पष्ट व्यक्त होता है इसमें बहुत ही मनोहर अनूठी उक्तियोंद्वारा श्रीगंगाकी प्रार्थना की गई है। इसके यथार्थ अनुवाद करनेमें सफलता प्राप्त करना एकवारही सहज कार्य नहीं है। सुतरां "समश्लोकी" अनुवादमें और भी अधिक कठिनता है क्योंकि संस्कृतमें तो विभक्तियां शब्दोंसे संलग्न रहती हैं और हिन्दीमें उनके लिये अवश्यही पृथक् अक्षरका न्यास करना पड़ता है। इस कठिनताको अनुवादकही समझ सकते हैं क्योंकि "नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्" अतएव इसमें जो कुछ त्रुटि रह गई हों उनका क्षमा प्रार्थी होता हुआ और उनको मुझे सूचित करनेकी याचनापूर्वक इस निवेदनको पूर्ण करता हूं.

प्रार्थयिता

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,

"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना.

कल्याण-बंबई.

श्रीः

अथ गंगालहरी

अन्वय, हिन्दीपद्य तथा भाषानुवादसहित

श्रीगङ्गादेव्यै नमः

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि त-
न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः ।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां
सुधासौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु ।।१।।

अन्वय :–हे गंगे ! यत् सकलवसुधायाः समृद्धं सौभाग्यम् अस्ति । लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः महैश्वर्यम् अस्ति । यत् श्रुतीनां सर्वस्वम् अस्ति । अथ सुमनसां मूर्तं सुकृतम् अस्ति तत् ते किमपि सुधासौन्दर्यं सलिलं नः अशिवं शमयतु ।। १ ।।

भा. पद्य–कहा ना जावै जो अखिल भुवि सौभाग्य सुख है ।
बड़ाही भारी जो त्रिपुरहर ऐश्वर्य सु अहै ।।

सभी है वेदोंका सुकृत प्रतिमा है सुरन जो ।
सुधा जैसा तेरा जल अशुभ मेरा हरहु सो ।।१।।

हिन्दीटीका-हे श्रीगंगे ! कैसा वह जल है कि, संपूर्ण पृथ्वीका सौभाग्य अर्थात् शोभारूप है और खण्डपरशु अर्थात् शंकर जिनकी लीला करिके सकल संसार आनंदित है उनका भी वह महाऐश्वर्य है और श्रुतियोंका सर्वस्व है और श्रेष्ठ मानसवालोंका किंवा देवताओंका जो कुछ गुप्त सुकृत है सो तेरा वह अनिर्वचनीय महिमावान् सुधासौन्दर्यसलिल अर्थात् अमृतके तुल्य जल मेरे पापको नाश करै ॥१॥

दरिद्राणां दैन्यं दुरितमथ दुर्वासनहृदां
द्रुतं दूरीकुर्वन् सकृदुपगतो दृष्टिसरणिम् ।
अपि द्रागाविद्याद्रुमदलनदीक्षागुरुरिह
प्रवाहस्ते वारां श्रियमयमपारां दिशतु नः ॥२॥

हे मातः ! ते तव बारां प्रवाहः नः अस्मभ्यम् अपारां श्रियं दिशतु। दरीद्राणां दैन्यं द्रुतं दूरीकुर्वन् । इह दुर्वासनहृदां दुरितं दुरीकुर्वन् । किंभूतः सन् दृष्टिसरणिं सकृत् उपगतः सन् । अथ द्राक् आविद्याद्रुमदलनदीक्षागुरुः अस्ति ॥ २ ॥

दरिद्रोंकी पीरा अरु दुरित पापीजु नरके ।
मिटाती है वेगैं दृगपथ भये एक वरके ॥
अविद्यावृक्षोंको दलन करती है छिनहि ये ।
जलोंकी तो धारा जग श्रिय अपारा हमहिं दे ॥२॥

हे श्रीगंगे ! तेरे जलोंका यह प्रवाह मुझे अपार लक्ष्मीको

देय कैसा वह प्रवाह है कि, किंचिन्मात्र दृष्टिके पथमें प्राप्त हो तो भी दरिद्रोंकी दीनता और हृदयके दुर्वासनावालोंके पापको दूर करता हुवा इस संसारमें शीघ्र अविद्यारूपी वृक्षके नाश करनेमें यह दीक्षागुरु है ।।२।।

स्मृतिं याता पुंसामकृतसुकृतानामपि च या
हरत्यन्तस्तन्द्रां तिमिरमिव चण्डांशुसरणिः ।
इयं सा ते मूर्तिः सकलसुरसंसेव्यसलिला
ममांतः सन्तापंत्रिविधमथ तापं च हरताम् ।।३।।

हे मातः ! या अकृतसुकृतानामपि पुंसां च अन्तः स्मृतिं याता सती तन्द्रां चण्डांशुसरणिः तिमिरमिव हरति । इयं ते मूर्तिः सकलसुरसंसेव्यसलिला अथ मम अन्तः संतापं च त्रिविधं तापं हरताम् ।। ३ ।।

न कीये हैं धर्मा तिन नरन भी ध्यान मपथ हो ।
हियेका अज्ञाना तम रवि समाना हरत जो ।
करैं सेवा देवा सलिलमय तेरा वपु यहै ।
सभी सन्तापा औ त्रिविध तनतापा मम दहै ।।३।।

हे जननि ! तुम्हारी वह जलमयी मूर्ति जिस मूर्तिको सकल-देवता सेवन करते हैं और जो स्मरण करनेसे धर्महीन जीवोंके अंतःकरणके अज्ञानको इस प्रकार नष्ट कर देती है जैसे सूर्य अंधकारको तैसेही जलमयी मूर्ति मेरे त्रिविधताप अर्थात् आधि-दैविक और आध्यात्मिक और आधिभौतिकको हर लेय ।।३।।

तवालम्बादम्ब स्फुरदलघुगर्वेण सहसा
मया सर्वेऽवज्ञासरणिमथ नीताः सुरगणाः ।
इदानीमौदास्यं यदि भजसि भागीरथि तदा
निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः ॥४॥

हे अम्ब ! तव आलम्बात् स्फुरदलघुगर्वेण मया सहसा सर्वे सुरगणाः अवज्ञासरणिं नीताः । हे भागीरथि ! इदानीं यदि त्वम् औदास्यं भजसि तदा निराधारः अहं केषां पुरः हा रोदिमि इति कथय ॥ ४ ॥

हुआ मेरे अम्बा ! गरव अवलम्बा लखि तुम्हें ।
अवज्ञा मैं कीन्हीं सुरगण गिने हैं लघु उन्हें ॥
अरी ! माता ! जो तू अब रह उदासीन तब हा ! ।
निराधारा होऊं अहह ! कित रोऊं कह भला ॥४॥

हे मातेश्वरि ! तेरे आलम्बके आश्रयसे जो मुझे बड़ा भारी अभिमान हुआ उससे मैंने सब देवताओंका अपमान करडाला अब हे अम्व भागीरथि ! जो इस समय आप उदासीनताको प्राप्त होती हो अर्थात् मेरे उद्धारके हेतु कुछ विशेष अनुकंपा नहीं करती हो तो निराधार होकर किनके आगे रोऊंगा यह तुमही बताओ ॥४॥

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्वानीरं तव जननि तीरं श्रितवताम् ॥
सुधातः स्वादीयः सलिलमिदमातृप्ति पिबतां
जनानामानन्दः परिहसति निर्वाणपदवीम् ॥५॥

हे जननि ! प्राज्यमपि राज्यं तृणमिव सहसा परित्यज्य तव विलोलद्वानीरं तीरं श्रितवतां सुधातः स्वादीयः इदं सलिलम् आतृप्ति पिबतां जनानाम् आननन्दः निर्वाणपदवीं परिहसति ।। ५ ।।

जिन्होंने त्यागा है तृणसम बड़ा राज झटही ।
घने बेतों घेरे निकटतर तेरे बसतही ।।
सुधाको भी जीते मधुर जल पीते रहँ सदा ।
उन्हें हो आनंदा वह हंसत हैं मोक्षहु तदा ।।५।।

हे जननि ! जो लोग बड़े भारी राज्यको एकाएक तृणके समान छोड़कर तुम्हारे तीरके आश्रित हुए हैं जिसमें विशेष करके वेतसके वृक्ष डूब रहे हैं और जिसमें सुधासे भी अधिकतर मीठा और स्वादिष्ठ जल है कि, जिसके पीनेवालोंकी तृप्तिका जो आनंद है वह निर्वाणपदवी कहे मोक्षपदवीको हँसता है अर्थात् मोक्ष तो उनके साथहीमें है ।।५।।

उदञ्चन्मात्सर्यस्फुटकपटहेरम्बजननी-
कटाक्षव्याक्षेपक्षणजनितसंक्षोभनिवहाः ।
भवन्तु त्वङ्गन्तो हरशिरसि गाङ्गाः पुनरमी
तरंगाः प्रोत्तुंगा दुरितभयभंगाय भवताम् ।।५।।

अमी गङ्गाः प्रोत्तुङ्गाः तरङ्गा भवतां दुरितभयभंगाय भवन्तु । किंभूताः उदञ्चन्मात्सर्यस्फुटकपटहेरम्ब-

जननीकटाक्षव्याक्षेपक्षणजनितसंक्षोभनिवहाः अत एव हरशिरसि त्वङ्गन्तः ।। ६ ।।

भवानीके हूआ कपट लखि मात्सर्य जु अहा ।
कटाक्षोंको कीया तब जिंहि हुआ क्षोभ सुमहा ।।
इसीसे है कम्पा हरशिर उतंगा रहँहि जो ।
तरंगा गंगाके कलुषभय भंगा करँहि सो ।।६।।

महादेवजीके शिरके विषे अत्यन्त ऊंचे और चलायमान गङ्गाजीकी तरंगें तुम्हारे सबके पापरूपी भयको भंग करें । वे कैसे है द्वेष और स्फुट कपटकरके पार्वतीजीके कटाक्षके आक्षेपसे उत्पन्न जो हैं क्षणमात्रके लिये क्षोभोंके समूह अर्थात् साधुओंका क्षणमात्रका क्रोध भी दूसरों को कल्याणकारी होता है ।।६।।

प्रभाते स्नातीनां नृपतिरमणीनां कुचतटी-
गतो यावन्मातर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः ।
मृगास्तावद्वैमानिकशतसहस्रैः परिवृता
विशन्ति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नन्दनवनम् ।।७।।

हे मातः ! प्रभाते स्नातीनां नृपतिरमणीनां कुचतटीगतः मृगमदः तव तोयैः यावत् मिलति तावत् मृगाः वैमानिकशतसहस्रैः परिवृताः विमलवपुषःसन्तः स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा नन्दनवनं विशन्ति ।। ७ ।।

लगी कस्तूरी जो नृपयुवतियोंके कुच तलै ।
प्रभाते न्हातेमें तव सलिल जौलौं वह मिलै ।।

मृगा वे तौलौंही विशद तन पाते सु छिन मैं।
खुशीसे जाते हैं सुरगण घिरे देववनमैं ॥७॥

हे जननि! प्रातःकालके समय जब नृपतिरमणी अर्थात् राजाओंकी स्त्रियां तुम्हारी धारामें स्नान करती हैं उनके कुचतटमें जो लगा रहता है मृगमद कहे कस्तूरी वह जबताईं छूटकर जलमें घुलता है उतनेही समयान्तरमें वे मृतक कस्तूरीमृग, कि, जिनकी नाभीसे वह निकलता है दिव्यदेहको धारण करके शतसहस्र विमान-देवताओंके बीचमें विमानपर बैठकर अपनी इच्छानुसार नंदनवन-में प्रवेश करते हैं ॥७॥

स्मृतं सद्यः स्वान्तं सुरचयति शान्तं सकृदपि
प्रगीतं यत्पापं झटिति भवतापं च हरति।
इदं तद्गङ्गेति श्रवणरमणीयं खलु पदं
मम प्राणप्रान्ते वदनकमलान्तर्विलसतु ॥८॥

हे मातः! मम प्राणप्रान्ते इदं तत् गंगा इति वदन-कमलान्तः विलसतु खलु। श्रवणरमणीयं यत् स्मृतं सत् सद्यः शान्तं नितान्तं सुरचयति। यत् सकृदपि प्रगीतं सत् झटिति पापं भवतापञ्च हरति ॥ ८ ॥

करै है शांती जो स्मरण करनेसे हिय महां।
हरै है जो पापैं सकल भवतापैं कह तहां॥
वही यैं "श्रीगंगे" श्रवण सुखदाई पद अहो।
बिसारैं प्राणोंको तब मुख हमारे स्थित रहो ॥८॥

जो गंगापद स्मरण करनेसे तुरंत अन्तःकरणको शांत कर देता है और सुकृत नाम किंचिन्मात्र भी गान करनेसे तत्क्षण त्रिविध पाप अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक और भवतापको हर लेता है। और श्रवणरमणीय अर्थात् कर्णोंको सुख देनेवाला है ऐसा परम रमणीय गंगा गंगा ऐसा पद मेरे प्राणान्तके समय मेरे मुखसे निकले ॥८॥

यदन्तः खेलन्तो बहुलतरसन्तोषभरिता
न काका नाकाधीश्वरनगरसाकाङ्क्षमनसः।
निवासाल्लोकानां जनिमरणशोकापहरणं
सदेतत्ते तीरं श्रमशमनधीरं भवतु नः ॥९॥

यदन्तः खेलन्तः काका बहुलतरसन्तोषभरिताः सन्तः नाकाधीश्वरनगरसाकांक्षमनसः न आसन्। निवासात् लोकानां जनिमरणशोकापहरणम् एतत् ते तीरं न श्रमशमनधीरं भवतु ॥ ९ ॥

जहां खेलैं जो हैं चित बहुत संतोषित हुये।
नहीं सो कागा भी सुरभवनको चाहत गये॥
बसैं हैं जो लोगा भवमरण शोका तिन हरै।
वही तेरो तीरा शमन भवपीरा मन करै ॥९॥

हे गंगाजी! तुम्हारे तटपर अत्यन्त संतोष भरे हुए जो काक नाम कौवे खेलते हैं वे सचमुच कौवे नहीं हैं किन्तु इन्द्रपुरके चाहनेवाले अर्थात् योगीजन हैं और जो तुम्हारा तट अनेक लोगोंके

निवासजनित जन्ममरणरूपी शोकको हरलेता है सो मेरी भी संसाररूपी पीडाके निवारणमें समर्थ होवै ।।९।।

न यत् साक्षाद्वेदैरपि गलितभेदैरवसितं
न यस्मिन् जीवानां प्रसरति मनोवागवसरः ।
निराकारं नित्यं निजमहिमनिर्वासिततमो
विशुद्धं यत्तत्त्वं सुरतटिनि तत्त्वं न विषयः ।।१०।

हे मातः ! गलितभेदैः वेदैरपि यत्साक्षात् न निगदितम् । हे सुरतटिनि ! यस्मिन् जीवानां मनोवागवसरः न प्रसरति । यत् निराकारं नित्यं निजमहिमनिर्वासिततमः न विषयः विशुद्धं यत् तत्त्वं त्वम्।।१०।।

नहीं जाको वेदा विदित मति भेदा स्थिर करैं।
नहीं जामैं वाणी मनगति जु प्राणी न विचरैं।।
न आकारा भासे नित स्वमहिमासे तम दहै।
अये मा गंगे तू नहिं विषय सो ब्रह्मद्रव है ।।१०।।

जो ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों करके और कर्मोपासनाके प्रतिपादक प्रत्यक्ष शब्दों करके निश्चित नहीं हुआ अर्थात् किसीने उसके भेदको नहीं पाया और जिसके विषे जीवोंके मन और वचनका अवसर कहे प्रवेश नहीं है जो निराकार और नित्य और केवल अपने प्रकाशमें प्रकाशित है जिससे अविद्यारूपी अंधकार निवृत्त होता है वही विशुद्ध तत्त्व है सो हे गंगे ! आप है किन्तु विषय नहीं है केवल भगीरथके थोड़े प्रयोजन और उद्धारके हेतु सदैव जलरूप रहती हो ।।१०।।

मह दानैर्ध्यानैर्बहुविधिवितानैरपि च य-
न्नलभ्यं घोराभिः सुविमलतपोराशिभिरपि ।
अचिन्त्यं तद्विष्णोः पदमखिलसाधारणतया
ददाना केनासि त्वमिह तुलनीया कथय नः ।।११।।

हे मातः ! महादानैः ध्यानैः बहुविधिवितानैः च पुनः सुविमलतपोराशिभिरपि घोराभिः यत् न लभ्यं तत् अचित्यं विष्णोः पदम् अखिलसाधारणतया ददाना त्वम् इह केन दुलनीया असि । नः कथय ।। ११ ।।

बड़े दानोंसे भी बहुत जपध्यानों धरनसे ।
मिलै है जो नाहीं अतितर तपोंके करनसे ।।
वही श्रीविष्णूका पद सब जनोंकी सहजही ।
अहो मा ! तू देती तुलत किहि सेती कह तुही ।।११।।

हे जननि ! विष्णुका वह अचित्य पद जो गजादिक महादान और ध्यान और अनेक विधान और यज्ञ और बड़े बड़े भारी विमलतपस्यादि करके भी किसीको नहीं मिल सकता सो नही विष्णुपद आप अपने तटके मृतक जीवोंको साधारण रीतिसे देती हो तो मुझसे आप कहैं कि, इस संसारमें वह कौन ऐसा है जिसके साथ तुल्यता की जाय ।।११।।

नृणामीक्षामात्रादपि परिहरन्त्या भवभयं
शिवायास्ते मूर्तेः क इह बहुमानं कथयतु ।

अमर्षम्लानाया: परममनुरोधं गिरिभुवो
विहाय श्रीकण्ठः शिरसि नियतं धारयति याम् ॥१२॥

हे मात: ! नृणाम् ईक्षामात्रादपि भवभयं परिहरन्त्या: तव शिवाया: मूर्तेः महिमानम् इह क: निगदतु । अमर्षम्लानाया: गिरिभुव: परमम् अनुरोधं विहाय श्रीकण्ठ: शिरसि नियतं यां धारयति ॥ १२ ॥

नरोंके नाशै हैं सकलभवत्रासैं लखतही ।
शिवामूर्ती तेरी जिहिं सुमहिमा को सक कही ॥
भवानीकी ग्लानी चित प्रणय हानी नहिं गिनै ।
सदाही माथेपै स्मरहर अहो ! राखत जिनै ॥१२॥

हे जननि ! तेरी शिवामूर्ति अर्थात् कल्याणरूपी मूर्तिकी कृपा दृष्टिसे मनुष्योंका भवभय दूर होता है उस कल्याणमूर्तिकी महिमाके वर्णनके विषे इस संसारमें कौन समर्थ है जिस तुम्हारी कल्याणमूर्तिको श्रीकण्ठ कहे शिवजी अपने मस्तकपर नित्यश: धारण करते हैं, यद्यपि उससे पार्वतीजीके चित्तमें अत्यंत मलीनता और खेद होता है परंतु महादेवजी उनके आग्रहको न मानकर आपको तो नित्य धारण ही किये रहते हैं ॥१२॥

विनिन्द्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यैः सपुलकमपास्यानि पिशुनैः ॥
हरन्ती लोकानामनवरतमेनांसि कियतां
कदाप्यश्रान्ता त्वं जननि पुनरेका विजयसे ॥१३॥

हे जननि ! उन्मत्तैरपि विनिन्द्यानि, पतितैरपि परिहार्याणि, व्रात्यैः अवाच्यानि सपुलकं यथा स्यात् तथा पिशुनैः अपास्यानि, कियतां लोकानाम् एनांसि अनवरतं हिरन्ती कदापि न श्रान्ता त्वं पुनः एका विजयसे ।। १३ ।।

करैं निंदा माते ! पतितहुं जिन्हैं देखत घिनैं ।
उचारैं नीचा नां पिशुन, लखि रोमाञ्चित जिनैं ।।
हरै पापा ऐसे निशिदिवस केते नरनहीं ।
कबैंहूं थाकै ना जग विजय लीनी इक तुही ।।१३।।

हे गंगे ! कितने एक मनुष्योंके पापोंको हरतेसंते कभी तुम्हें थकावट नहीं आती और जगत्में अकेलीही विजयको प्राप्त होती हो, सो ये कैसे पाप हैं ? कि, जिन्हें उन्मत्त लोग भी विशेष करके निंदित समझते हैं और पतित लोग दूरसे त्याज्य करते है और व्रात्य अर्थात् संस्कारहीन मनुष्य भी अवाच्य जानते हैं और जिनसे पिशुन कहे वंचकों को भी पुलक कहे रोमांच हो जायं ताते वे भी नहीं कर सके हैं सो ऐसे ऐसे पापोंके करनेवाले पुरुषोंका हे अम्ब ! तुम उद्धार करती हो ।।१३।।

स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा ।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां
गुणानामेवायं तव जननि दोषः परिणतः ।।१४।।

अये जननि ! अवनितलशोकापहृतये स्वर्लोकात् स्खलन्ती त्वं यत् पुरभिदा जटाजूटग्रन्थ विनिबद्धासि। तत् निर्लोभानामपि मनसि लोभं जनयतां तव गुणानामेव अयं परिणतो दोषः अस्ति ।। १४ ।।

गिरी तू पृथ्वीके सुरभवनसे दुःख हरन्हैं।
जटाजूटे बांधी त्रिपुरहरने है तव तुम्हैं ।।
अरी ! निर्लोभोंके मनविच महालोभ करते ।
गुणोंमें तेरे ये अवगुण बड़ा लोग धरते ।।१४।।

हे जननि ! आप पृथ्वीतलके शोक हरनेके निमित्त स्वर्गलोकसे आई हो, तोपीछे महादेवजीकी जटाजूटकी गांठमें भली भांति निबद्ध भई हो। हे श्रीगंगे। निर्लोभी जो हैं पूर्णकाम शिवादिक कि, जिन्हें कुछ इच्छा नहीं है उनके मनमें भी जो तुम्हारे गुण लोभ उत्पन्न करते हैं यही एक बंधनरूप तुम्हारे गुणोंका दोष अत्यन्त शोभायमान है ।।१४।।

जडानन्धान्पंगून्प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तासरणीन् ।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपतितान्
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ।।१५।।

हे अम्ब ! जडान् अन्धान् पंगून् प्रकृतिवधिरान् उक्तिविकलान् ग्रहग्रस्तान् अस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन् निलिम्पैर्निर्मुक्तान् अपि च निरयान्तर्निपतितान् नरान् त्रातुं त्वम् इह परमं भेषजम् असि ।। १५ ।।

अहो ! अंधे लूले जड़मति तथा मूक बहिरे।

ग्रहोंके मारे जो दुरित निसतारे नहिं करे ।।
सुरोंने भी त्यागे नरकन अभागे नर परे ।
उन्होंकी रक्षाको जननि ! जग तू औषधि खरे ।।१५।।

हे अम्ब ! इस संसारमें जड़ कहे मूर्ख और अंधे और पंगुले और प्रकृति करके बधिर उक्तिविकल कहे गूगे और ग्रहग्रस्त पागल अर्थात् विक्षिप्त और विषयग्रस्त और ऐसे पातकी कि, जिनके पापोंके दूर होनेका एक उपाय प्रायश्चित्त ही रह गया है और जिनको देवताओंने भी त्याग दिया है और जो काम क्रोधरूपी नरकमें गिरा दिये गये हैं इन सबके तारनेके निमित्त तुमही परम औषध हो ।।१५।।

स्वभावस्वच्छानां सहजशिशिराणामयमपा-
मपारस्ते मातर्जगति महिमा कोऽपि जयति ।
मुदा यं गायन्ति द्युतलमनवद्यद्युतिभृतः
समासाद्याद्यापि स्फुटपुलकसान्द्राः सगरजाः ।।१६।।

हे मातः ! स्वभावस्वच्छानां सहजशिशिराणां तव अपाम् अयम् अपारः कोपि महिमा जगति जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यम् अद्यापि सगरजा अनवद्यद्युतिभृतः सन्तः द्युतलम् समासाद्य स्फुटपुलकसान्द्राः सन्तः मुदा गायन्ति ।। १६ ।।

बड़ाही सीरा ये विमल तव नीरा सहज ही ।
अहो माता ! याकी अमित महिमा जात न कही ।।
अभीलौं गाते हैं सगरज जिसे मोदित हुये ।

प्रकाशे हैं भारी पुलकित भये जो दिवि गये ॥१६॥

हे मातः गंगे ! आपके जो स्वभाव स्वच्छ और सहज योग जल है अर्थात् आपसे आप निर्मल और शीतल है। किसी संयोग अथवा किसी कारणसे नहीं। उन जलोंकी परम आश्चर्यरूप अपार महिमा इस संसारमें विराजमान है कि, जिस महिमाको अब भी राजा सगरके साठ सहस्र पुत्र स्वर्गमें पहुंचकर निर्दोष द्युतिको धारण किये हुए प्रेमसे विकसित और पुलकांकित होकर आनंद पूर्वक गाते हैं ॥१६॥

कृतक्षुद्रैनस्कानथ झटिति सन्तप्तमनसः
समुद्धर्तुं सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः ।
अपि प्रायश्चितप्रसरणपथातीतचरिता-
न्नरानूरीकर्तुं जगति खलु जागति भवती ॥१७॥

हे मातः ! त्रिभुवनतले तीर्थनिवहाः कृतक्षुद्रैनस्कान् अथ झटिति संतप्तमनसः समुद्धर्तुं संति अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान् नरान् ऊरीकर्तुं जगति ख़लु भवती जागर्ति ॥ १७ ॥

किये छोटे पापा पुनि हृदय तापा जिन करे।
उन्हें उद्धारा को त्रिभुवन घने तीर्थ जु परे॥
नहीं है निस्तारा अस अघ अपारा जिन किये।
तिन्हें अंगीकारा करन इक तोसी तुहिं अये ! ॥१७॥

हे जननि ! जो मनुष्य छोटे छोटे पापोंको करके बहुत शीघ्र मनमें संतप्त कहे दुःखी होगये हैं उनके उद्धार करनेके निमित्त त्रिभुवनके बीच बहुतसे तीर्थोंके समुदाय हैं परंतु जिन मनुष्योंके पाप प्रायश्चित्तके मार्गको लांघ गये हैं अर्थात् जिनके पापोंके छूट-

नेका कोई उपाय नहीं रहा उन पातकी मनुष्योंके अंगीकार करनेके हेतु केवल तुमही जागती हो और कोई नहीं ॥१७॥

निधानं धर्माणां किमपि च विधानं नवमुदां
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधानं त्रिजगतः ।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियां
श्रियामाधानं नः परिहरतु तापं तव वपुः ॥१८॥

हे गंगे ! धर्माणां निधानं च परं नवमुदां विधानं तीर्थानां प्रधानं त्रिजगतः अमलपरिधानम् अथ बुद्धेः समाधानम् अधियां तिरोधानं श्रियाम् आधानम् एतादृशं तव वपुः नः तापं परिहरतु ॥ १८ ॥

ठिकाना धर्मोंका नवमुद कराना सुचितका ।
प्रधाना तीर्थोंमें विमल परिधाना जगतिका ॥
समाधानाकारी मति रह छिपाना जड़नसैं ।
श्रियोंका आधाना तव तनु संतापा मम नसैं ॥१८॥

हे अम्ब । यह तुम्हारा वपु अर्थात् जलका समूह धर्मोका निधान कहे स्थान है और नवमुदों अर्थात् मोक्षाभिलाषियोंका विधान है और सब तीर्थोंका प्रधान हैं और तीनों लोकोंका अमल वस्त्र है और बुद्धिका समाधान है निर्बुद्धियोंका तिरोधान कहे आच्छादन है और लक्ष्मियोंका आधान अर्थात् निवासस्थान है सो मेरे तापको दूर करै ।१८।

पुरो धावं धावं द्रविणमदिराघूर्णितदृशां
महीपानां नानातरुणतरखेदस्य नियतम् ।
ममैवायं मन्तुः स्वहितशतहन्तुर्जडधियो
वियोगस्ते मातर्यदिह करुणातः क्षणमपि ॥१९॥

हे मातः ! द्रविणमदिराघूर्णितदृशां महीपानां पुरः नियतं धावंधावं नानातरुणतरखेदस्य स्वहितशतहंतुः अतएव जड़धियः ममैव अयं मन्तुः अस्ति यत् क्षणमपि ते वियोगः । अतः इह करुणा विधेया ॥ १९ ॥

भये माते घूम द्रविण–मदिराते नयन ही ।
नृपोंके आगे मैं फिरि फिर हुआ व्याकुल सही ॥
यहै दोषा मेरा विरह यहैं तेरा अति भया ॥
हितोंको नाशे मैं जडमति करो मा छिन दया ॥ ॥१९॥

मुझ पंडिताभिमानी और जड़बुद्धिने अपने सैकड़ों हितोंको नष्ट कर दिया और धनमदसे चढ़ी हुई आंखोंवाले राजाओंके आगे दौड़ दौड़कर अनेक प्रकारके बड़े बड़े भारी क्लेश इकट्ठे किये हैं सो आज हे अम्ब ! उन सब दुःखोंका अन्तसमय आ गया है जो आप क्षणमात्र भी कृपा करैं।१९।

मरुल्लीलालोलल्लहरिलुलिताम्भोजपटल-
स्खलत्पांशुव्रातच्छुरणविलस कौङ्कुमरुचि ।
सुरस्त्रीवक्षोजक्षरदगुरुजम्बालजटिलं
जलं ते जङ्घालं मम जननि जालं जरयतु ॥२०॥

हे जननि ! मरुल्लीलालोलल्लहरिलुलिताम्भोजपटलस्खलत्पांशुव्रातच्छुरणविलसत्कौङ्कुमरुचि सुरस्त्रीवक्षोजक्षरदगुरुजम्बालजटिलं ते तव जंघालं जलं मम जालं जरयतु ॥ २० ॥

चलैं वायू तासों लहरिन हिलैं कञ्ज अवली ।
झरैं ताहीसों जो रज छवि लहै कुंकुम भली ॥

उरोजोंसों छूट्यो सुरतियनको चंदन मिलो।
वही तो जंघाला जल जननि जाला मम दलो ॥२०॥

हे जननि! तेरा जंघाल अर्थात् गंभीर जल मेरे जाल अर्थात् भवपाशको ढीला करै वह कैसा जल है कि, पवनकी लीला करके चलती हुई जो चंचल लहरें हैं ताकरके अरुण कमलकी पंक्तिमेंसे गिरे हुए हैं केशरके रज उनके मिलजानेसे अरुण रुचि कुंकुमके समान हो गई जिसमें और फिर कैसा है कि, जिसमें देवताओंकी स्त्रियोंके स्तनोंका स्नानके समय जो छूटा हुआ चंदनका पंक ताकरिके व्याप्त है ॥२०॥

समुत्पत्तिः पद्मारमणपदपद्मामलनखा-
न्निवासः कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने।
अथायं व्यासङ्गो हतपतितनिस्तारणविधौ
न कस्मादुत्कर्षस्तव जननि जागर्ति जगति ॥२१॥

हे जननि! जगति तवोत्कर्षः कस्मान्न जागर्ति। तव पद्मारमणपदपद्मामलनखात् समुत्पत्तिः अस्ति। कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने निवासोऽस्ति। अथच अयं निखिलजननिस्तारणविधौ व्यासङ्गः अस्ति ॥ २१ ॥

मुरारीके अंघ्री उतपति तिहारी नखन है।
स्मरारीके माथे निवसति जटाके भवन है॥
उधारो हो सारे पतितन तिहारे व्यसन हैं।
नहीं क्यों हो! तेरो कह! यश घनेरो भवन है ॥२१॥

हे जननि गंगे! रमारमणके चरणकमलके अमल नखसे तुम्हारी उत्पत्ति भई है और कामके प्रतिभट अर्थात् शत्रु जो शिवजी हैं उनकी जटाजूटमें निवास मिला; तिसपर भी जो संपूर्ण पतितोंके तारणके विषे तुम्हारा व्यापार रहता है तो जगत्में तुम्हारी महिमा क्यों न जागती रहे?

तात्पर्य यह है कि, जो ऐसे उत्तम स्थानसे उत्पन्न होकर ऐसे परम उच्च स्थानमें निवास पावे और वह पतितोंपर कृपा करै तो यथार्थमें क्या आश्चर्यकी वार्ता है उसका उत्कर्ष सबसे श्रेष्ठ हो ॥२१॥

नगेभ्यो यान्तीनां कथय तटिनीनां कतमया
पुराणां संहर्तुः सुरधुनि कपर्दोऽधिरुरुहे ।
कया वा श्रीभर्तुः पदकमलमक्षालि सलिलै-
स्तुलालेशो यस्यां तव जननि दीयेत कविभिः २२॥

हे जननि ! कविभिः यस्यां तव तुलालेशः दीयेत हे सुरधुनि ! तां त्वं कथय । नगेभ्यो यान्तीनां तटिनीनां कतमया पुराणां संहर्तुः कपर्दोऽधिरुरुहे । कया वा सलिलैः श्रीभर्तुः पदकमलम् अक्षालि ॥ २२ ॥

अनेकोंही आती तटिनि बहती जो गिरिनसे ।
कहो श्रीभर्त्ताके चरण किन धोये सुजलसे ॥
अनंगारी धारी निज शिर जटाजूटन किसे ।
बता री ए अम्बे ! कवि कहं तिहारी सम जिसे ॥२२॥

हे जननि ! पर्वतसे आती हुई कितनी एक नदियां हैं उनमें से कहो कि, कौन ऐसी नदी है जो महादेवजीके जटाजूटके ऊपर चढ़ी होय और कौन ऐसी है कि, जिसने श्रीपति नारायणके चरण-कमलको अपने जलोंकरके धोया होय जिसमें तुम्हारा तुलालेश अर्थात् उपमा कविलोगों करके दीजाय अर्थात् कोई ऐसी नहीं है ॥२२॥

विधत्तां निःशङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ।

कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती ।।२३।।

हे मातः ! तदा विधिः निरवधिसमाधिं निःशंकं विधत्ताम् । अहो हरिः शेषे सुखं शेताम् । हरः अविरतं नृत्यतु। अथ प्रायश्चितैः तपोदानयजनैः अलम् कामानां सवित्री भवती यदि जगति जागर्ति ।। २३ ।।

समाधीको धाता अविचल लगाता नित रहो ।
पुरारी भी नाचौ हरिहु अहि सोते सुख लहो ।।
रहो प्रायश्चित्ता यजन तप दाना बस तदा ।
जनित्री कामोंकी जननि ! जग जागो तुम यदा ।।२३।।

हे जननि ! यदि सब कामनाओंकी उत्पन्न करनेवाली आप इस जगत्में जागती हो तो ब्रह्माजी निरवधि कहे अनंत काल पर्यंत निःशंक होकर अपनी समाधिको लगाये रहें और विष्णु भगवान् भी शेषरूपी पर्यंकपर सुखसहित सोवैं और शिवजी भी आनंदपूर्वक अपना ताण्डव (नृत्य) किया करें और कृच्छ्र चांद्रायण आदि प्रायश्चित्त और तप दान यज्ञोंसे भी कुछ प्रयोजन नहीं अर्थात् हे पापनाशिनि गंगे ! आपकी कृपालेशसे सब कुछ हो जायगा ।।२३।।

अनाथः स्नेहार्द्रां विगलितगतिः पुण्यगतिदां
पतन्विश्वोद्धर्त्रीं गदविदलितः सिद्धभिषजम् ।
सुधासिन्धुं तृष्णाकुलितहृदयो मातरमयं
शिशुः संप्राप्तस्त्वामहमिह विदध्याः समुचितम् ।२४।

अये मातः ! अनाथः विगलितगतिः गदविदलितः

तृष्णाकुलितहृदयः शिशुः इह पतन् अहं स्नेहार्द्रां पुण्यगतिदां विश्वोद्धर्त्रीं सुधासिंधुम् अतएव सिद्धभिषजं त्वां संप्राप्तः। अतएव समुचितं विदध्याः ।। २४ ।।

दयालू तू देवै सुगति कुगती दीन अति हूं।
दुखारी पापी हौं पतितन उधारी भिषज तूं।।
सुधासिंधू है तू तृषित शिशु आयो शरण मैं।
करौ लागै सोही उचित चित जोही अब तुम्है।।२४।।

हे जननि! मैं आर्त और दुःखी होकर तुम्हारे निकट प्राप्त हुआ तुम अनाथोंपर स्नेह करके सदैव आर्द्र रहती हो और मैं नष्टगति हूं और तुम पुण्यगतिको देनेवाली हो और मैं पतित हूं तुम विश्वका उद्धार करनेवाली हो और मैं रोगोंकरके ग्रस्त हूं और तुम अमृतका समुद्र हो और मेरा हृदय तृष्णा करके आकुलित है और तुम अमृतका समुद्र हो और मैं बालक हूं और तुम माता हो भले प्रकार तुम्हारी शरणमें प्राप्त हूं तुम्हें जो उचित जान पड़ै सो यत्न करो।।२४।।

विलीनो वै वैवस्वतनगरकोलाहलभरो
गता दूता दूरं क्वचिदपि परेतान्मृगयितुम्।
विमानानां व्रातो विदलयति वीथीर्दिविषदां
कथा ते कल्याणी यदवधि महीमण्डलमगात्।।२५।।

हे मातः! ते कल्याणी कथा यदवधि महीमण्डलम् अगात्। तदवधि वै वैवस्वतनगरकोलाहलभरः विलीनः परेतान् मृगयितुं दूताः क्वचिदपि दूरं गताः विमानानां व्रातः दिविषदां वीथीः विदलयति ।। २५ ।।

मिटा जो होता था यमनगर कोलाहल महा।
गये दूता दूरैं मृतकजन ढूंढें जहँ जहां॥
विमानोंकी श्रेणी सुरगलिन घेरी रहहिं सो।
कथा कल्याणी तो तबहि महि आनी तबहिं सो ॥२५॥

हे श्रीगंगे ! इस महीमंडलमें जबसे तेरी यह कल्याणी कथा आई है तबसे निश्चय करके यमराजके नगरमें लोगोंका हाहाकार शब्द मिट गया और यमके दूत उनको खोजनेके हेतु दूरतक गये जहां कहीं देखे तहां विमानोंके समूह करके देवताओंका मार्ग चारों ओरसे भरा हुआ अर्थात् पूरित हो रहा है सो समूह यमके दूतोंको मार्ग परसे विदलित करता है अर्थात् जहां गंगाजीकी कथा है वहां श्रीगंगा जीका सान्निध्यस्थान है वहांके मनुष्योंका धन्य भाग्य है और जहां श्रीगंगाजीका प्रत्यक्ष प्रवाह है उस स्थानका माहात्म्य कौन कह सकता है ॥२५॥

स्फुरत्कामक्रोधप्रबलरससंजातजटिल-
ज्वरज्वालाजालज्वलितवपुषां नः प्रतिदिनम्।
हरन्तां सन्तापं कमपि मरुदुल्लासिलहरी-
छटाचञ्चत्पाथः कणसरणया दिव्यसरितः ॥२६॥

दिव्यसरितः गंगायाः मरुदुल्लासिलहरीछटाचचंत्पाथःकणसरणयः स्फुरत्कामक्रोधप्रबलरससंजातजटिलज्वरज्वालाजालज्वलितवपुषां न प्रतिदिनम् कमपि सन्तापं हरताम् ॥ २६ ॥

भये कामक्रोधा प्रबल तिनसों भा ज्वर घना।
उसीकी ज्वालासे तप अंति कराला मम तना॥

लगै वायू तासों लहरिन कढ़ैं शीतल कना।
वही श्रीगंगाके मम तपन नासैं प्रतिदिना ॥२६॥

हे गंगे ! काम और क्रोधके फरकनेसे जो भया है प्रबलरस ता करिके उत्पन्न जो जटिलज्वर ताकी ज्वाला कहे लौरोंका जो है जाल ता करिके मेरे सब अंग जल रहे हैं जो दिव्य सरित अर्थात् गंगाजीकी चंचल लहरोंकी जो हैं छटा सो पवनके झकोरोंसे चलती है उनमेंसे अत्यन्त सूक्ष्म कण उड़ते हैं उन कणोंके बिंदुमार्गसे सदैव मेरे संतापको हर लिया करें ।२६।

इदं हि ब्रह्माण्डं सकलभुवनाभोगभवनं
तरङ्गैर्यस्यान्तर्लुठति परितस्तिन्दुकमिव ।
स एव श्रीकण्ठप्रविततजटाजूटजटिलो
जलानां संघातस्तव जननि पापं हरतु नः ॥२७॥

हे जननि ! स एषः श्रीकण्ठप्रविततजटाजूटजटिलः तव जलानां संघातः नः पापं हरतु । सकलभुवनाभोगभवनम् इदं ब्रह्माण्डं हि परितः तरंगैर्यस्य अन्तः तिंदुकमिव लुठति ॥ २७ ॥

यहै जो ब्रह्माण्डा अखिल भुवनोंका भवन है।
तरंगोंसे जामें ढुरकत रहै गेंद सम है ॥
पुरारीजूके जो विलसत जटाजूटन जड़ो।
हरैं मेरे पापा यह जलप्रवाहा तव बड़ो ॥२७॥

हे जननि ! तुम्हारे जलोका प्रवाहरूपी समूहमें पापोंको हरलेव वह कैसा है कि, श्रीमहादेवजीकी जटाजूटके मध्य जड़ा हुआ है और जिसमें वह ब्रह्मांड जो चौदहों लोकके सुख और आनंदका भवन है तरंगोंके वेगसे चारों ओर गेंदके समान लुढकता है सो जलसंघात मेरे तापको दूर करै ॥२७॥

त्रपन्ते तीर्थानि त्वरितमिह यस्योद्धृतिविधौ
करं कर्णे कुर्वन्त्यपि किल कपालिप्रभृतयः।
इमं तं मामम्ब त्वमियमनुकम्पार्द्रहृदये
पुनाना सर्वेषामघमथनदर्पं दलयसि ॥२८॥

हे मातः! इह तीर्थानि त्वरितं यथा तथा यस्य उद्धृतिविधौ त्रपन्ते किल! कपालिप्रभृतयः करं कर्णे कुर्वंति। हे अम्ब! हे अनुकम्पार्द्रहृदये! तं माम् इमं पुनाना सती सर्वेषामपि अघमथनदर्पं दलयसि ॥२८॥

लजावैं हैं तीर्था तुरत जिहिको तारण लिये।
कपाली जैसेभी लखत अंगुली कानन दिये॥
अहो! मो ऐसे को हिये धरि दया तारक अभी।
किये हैं तैं अम्बे! अघहरण गर्वाहत सभी ॥२८॥

हे अम्ब! इस संसारके वीच जिस मेरे उद्धारके विधान में संपूर्ण तीर्थ लज्जित होते हैं और शिवादिक देवता सुन करके कान मूंदते हैं परंतु हे जननि! ऐसे मुझ पतितको आप करुणासे पूर्ण हृदय होकर तारती हुई सब तीर्थ और देवताओंके उस अभिमानका दलन करती हो जो उन पापोंके मथनके विषे रहा है सबको दूर कर रहा है ॥२८॥

श्वपाकानां व्रातैरमितविचिकित्साविचलितै-
र्विमुक्तानामेकं किल सदनमेनः परिषदाम्।
अहो मामुद्धर्तुं जननि घटयन्त्याः परिकरं
तव श्लाघां कर्तुं कथमिह समर्थो नरपशुः ॥२९॥

हे जननि! अमितविचिकित्साविचलितैः श्वपाकानां

व्रातैः विमुक्तानाम् एनः परिषदां किल एकं सदनं मां समुद्धर्तुं परिकरं घटयन्त्याः तव श्लाघां कर्तुम् अहो नरपशुः कथमिह समर्थो भवति ।। २९ ।।

हुआ संशै जासे विचलित भये जो श्वपच हूं।
उन्होंने भी त्यागे अस अवनको मैं सदन हूं।।
अहो मा! मेरेको कटिकसत तू तारण लिये।
बड़ाई तेरी मैं नरपशु करौं क्योंकरि अये? ।।२९।।

हे जननि! ऐसे पापोंके समूह हैं कि, जिनके छुड़ानेको कोई औषधि नहीं रही इसलिये उन्हें श्वपाकव्रात कहै चांडालोंके समुदायने भी छोड़-दिया सो मुझे महापातकीके उद्धारके हेतु जो आप परिकरको दृढ़ करती हो अर्थात् फैंट बांधती हो सो यह बड़ा आश्चर्य है क्योंकि मैं पूर्वोक्त पापके वृन्दोंका एक प्रधान स्थान हूं सो आपकी स्तुति करनेमें मैं नरपशु अर्थात् मनुष्योंमें जड़ होकर क्या सामर्थ्य रखता हूं ।।२९।।

न कोऽप्येतावन्तं खलु समयमारभ्य मिलितो
यदुद्धारादाराद्भवति जगतो विस्मयभरः।
इतीमामीहां ते मनसि चिरकालं स्थितवती-
मयं संप्राप्तोऽहं सफलयितुमम्ब प्रणयतः ।।३०।।

हे अम्ब! एतावन्तं समयम् आरभ्य कोपि जनः न मिलितः खलु। यदुद्धारात् जगतः आरात् विस्मय-भरः भवति। इति ते मनसि चिरकालं स्थितवतीम् इमाम् ईहां सफलयितुं प्रणयतः स्नेहात् अयमहं त्वां संप्राप्तः ।। ३० ।।

न कोई भी पापी अबतक कदापि मुहि मिला।
जिसे मैं उद्धारूं त्रिभुवन पसारूं यश भला॥
यही इच्छा तेरे दिवस बहुतेरे चित बसै।
अरी मा! आया मैं सफल करनेको अब उसे ॥३०॥

हे अम्ब! जिसके उद्धार होनेसे जगत्को विस्मय हो ऐसा पातकी ब्रह्माकी सृष्टिके आरंभसे आजतक न मिला होगा, आपके मनमें यह अभिलाषा बहुत दिनोंसे स्थित है सो उस अभिलाषाके सफल करनेके निमित्त यह मैं दास्यभावसे प्राप्त हूं अब विलम्ब मत करो ऐसा पातकी फिर न मिलेगा ॥३०॥

श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथ मिथ्याप्रलपनं
कुतर्केष्वभ्यासः सततपरपैशुन्यमननम्।
अपि श्रावं श्रावं मम तु पुनरेवंविधगुणा–
नृते त्वत्को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम् ॥३१॥

श्ववृत्तिव्यासंगः अथ नियतं मिथ्याप्रलपनं कुतर्केषु- अभ्यासः सततपरपैशुन्यमननं मम एवंविधगुणान् तु पुनः श्रावंश्रावं त्वदृते (त्वां विना) क्षणमपि वदनं कः निरीक्षेत नाम ॥ ३१ ॥

सदा मिथ्या बोलूं परधन डोलूं श्वसम हौं।
कुतर्कोंका प्रेमी नियत परनिंदा करत हौं॥
घनेरे ऐसे यै सुनि सुनि जु मेरे गुणनको॥
घनेरे ऐसे यै सुनि सुनि जु मेरे गुणनको॥
विना तेरे गंगे! लखहि छिन मेरो वदन को ॥३१॥

हे अम्ब! कुत्तेकी वृत्ति अर्थात् नीच सेवन और मिथ्या-

भाषणका नियम और कुतर्ककी बातोंका अभ्यास और निरंतर पिशुनताका मनन आदि जो मेरे अवगुणानुवाद हैं उन्हें सुनकर तुम्हारे सिवाय और कौन ऐसा है कि, क्षणमात्र मेरा मुख देखे किम्वा (कः) जो ब्रह्मा है वे भी मेरा मुख नहीं देख सकते प्रयोजन यह है कि, मेरा उद्धार आपके अधीन है ।।३१।।

विशालाभ्यामाभ्यां किमिह नयनाभ्यां खलु फलं
न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः ।।
अयं हि न्यक्कारो जननि मनुजस्य श्रवणयो-
र्ययोर्नान्तर्यातस्तव लहरिलीलाकलकलः ।।३२।।

हे जननि ! इह विशालाभ्याम् आभ्यां नयनाभ्यां किं फलम् याभ्यां परमरमणीया तव तनुः न आलीढा । हि मनुजस्य अयं न्यक्कारः तव लहरिलीलाकलकलः ययोः श्रवणयोः न अन्तर्यातः ।। ३२ ।।

बडे नैना जो हों कहहु इनको हो फल कहा ।
निहारी जो नाहीं सुललित तिहारी तनु महा ।।
यही है धिक्कारा जननि ! मनुजोंके श्रवण भी ।
सुनी ना जो प्यारी तव लहरिलीलाधुनि कभी ।।३२।।

हे जननि ! इह नाम इस संसारमें उन विशाल नेत्रोंकरके क्या फल है ? जिन करके तुम्हारे परमरमणीय प्रवाह धाराका दर्शन नहीं किया गया और हे जननि ! उन मनुष्योंके श्रवणको भी धिक्कार है कि, जिनमें तुम्हारी लहरोंकी लीलाकी कलकल ध्वनि नहीं प्राप्त हुई ।।३२।।

विमानैः स्वच्छन्दं सुरपुरमयन्ते सुकृतिनः
पतन्ति द्राक्पापा जननि नरकान्तः परवशाः ।।

विभागोऽयं तस्मिन्नशुभमयमूर्त्तौं जनपदे
न यत्र त्वं लीलादलितमनुजाशेषकलुषा ॥३३॥

हे जननि ! सुकृतिनः स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा विमानैः सुरपुरम् अयन्ते । पापाः परवशाः सन्तः द्राक् नरकान्तः पतंति। अयं विभागः अशुभमयमूर्तौं तस्मिन् जनपदेऽस्ति । यत्र लीलादलित मनुजाशेषकलुषा त्वं नासि ॥ ३३ ॥

विमानोंसे जाते सुरगपुरको जो सुकृति हैं ॥
गिरैं हैं नर्कोंमें परवश विचारे पतित हैं ॥
रहैं ऐसो भेदा अशुभमय देशा जु तिनहीं ।
जहां पै लीलासों अखिल अघनाशो तुम नहीं ॥३३॥

हे जननि गंगे ! लीलाकरके मनुष्योंके संपूर्ण पापोंके दलन करनेवाली तुम जिस निरे अशुभ देशमें नहीं हो वहां यह विभाग है कि, पुण्यात्मा लोग अपनी इच्छानुसार विमानोंपर चढ़के सुरपुरको जाते हैं और परवश अर्थात् पापात्मालोग नरकमें गिरते हैं। तात्पर्य यह है कि जहां गंगाजीका सान्निध्य स्थान है वहां कोई विभाग नहीं है तोभी वहां सबकी मुक्ति है ॥३३॥

अपि घ्नन्तो विप्रानविरतमुषन्तो गुरुसतीः
पिबन्तो मैरेयं पुनरपि हरन्तश्च कनकम् ॥
विहाय त्वय्यन्ते तनुमतनुदानाध्वरजुषा-
मुपर्यम्ब क्रीडन्त्यखिलसुरसम्भावितपदाः ॥३४॥

हे अम्ब ! विप्रान् घ्नन्तः गुरुसतीः अपि अविरतमु-

षन्तः पुनः मैरेयं पिबन्तःकनकमपि अपहरन्तः (पुरुषाः)अन्ते त्वयि तनुं विहाय अतनुदानाध्वरजुषाम् उपरि अखिलसुरसंभावितपदाः संतः क्रीडन्ति ।।३४।।

गुरुस्त्रीको सेवैं निशिदिवस मारैं द्विजन भी।
चुराते हैं सोना अथ च मदिरा पानरत भी ।।
तजैं तो तेरेमें तनु सुर सभी सेवत उसे।
विसीमें जाते हैं सुकृति नहिं पाते पद जिसे ।।३४।।

हे जननि ! विप्रोंके मारनेवाले और गुरु अर्थात् अपनेसे श्रेष्ठजन की स्त्रियोंसे व्यभिचार करनेवाले और मदिराके पीनेवाले और सोना चुरानेवाले और इन लोगोंकी संगति करनेवाले भी अंतअवस्थाके समय तुम्हारी धारामें शरीरको त्याग करके बड़े दानी और यज्ञकर्ताओंके लोकोंके ऊपर देवताओंकरके सेव्यमान पदमें जाकर विहार करते हैं ।।३४।।

अलभ्यं सौरभ्यं हरति सततं यः सुमनसां
क्षणादेवं प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतहृदाम् ।।
त्वदीयानां लीलाचलितलहरीणां व्यतिकरात्
पुनीते सोऽपि द्रागहह पवमानस्त्रिभुवनम् ।।३५।।

हे जननि ! यः सुमनसाम् अलभ्यं सौरभ्यं हरति एवं विरहशस्त्रक्षतहृदां प्राणानपि सततं क्षणात् हरति। सोपि पवमानः त्वदीयानां लीलाचलितलहरीणां व्यतिकरात् द्राक् अहह त्रिभुवनं पुनीते ।। ३५ ।।

हरै जो पुष्पोंकी मधुर सुरभीको तुरतहीं।
तथा प्राणोंकी भी विरह शर बींधे नर नहीं ।।

तिहारी लीलासे चलित लहरोंसे मिलतही।
बही वायू ऐहो! त्रिभुवन पुनीता करतही ।।३५।।

हे जननि! जो पवन देवताओंके पुष्पोंके दुर्लभ सुगंधको निरंतर हरलाता है मानों क्षणभरमें उनके प्राणोंको खींच लाता है और जिनके विरहरूपी शस्त्रका उनके हृदयमें घाव हो जाता है सोई पवन लीला करके चलायमान जो तुम्हारी लहरोंके समूह हैं उनमें प्राप्त होकर अहह नाम आश्चर्यरूप तीनों भवनोंको पवित्र करता है ।।३५।।

कियन्तः सन्त्येके नियतमिह लोकार्थघटकाः
परे पूतात्मानः कति च परलोकप्रणयिनः ।।
सुखं शेते मातस्तव खलु कृपातः पुनरयं
जगन्नाथः शश्वत्त्वयि निहितलोकद्वयभरः ।।३६।।

हे मातः! इह नियतं लोकार्थघटकाः एके कियन्तः सन्ति। परे पूतात्मानः सन्ति। कति च परलोकप्रणयिनः सन्ति। हे मातः! अयं पुनः शश्वत् त्वयि निहितलोकद्वयभरः जगन्नाथः तव कृपातः सुखं शेते खलु ।।३६।।

किते तो या लोका हित हित पराये जु करते।
विशुद्धात्मा होके चहत परलोका चित किते ।।
तज्यो हूं तेरे पै दुहुं भुवनको भार सब मैं।
सुखी सोऊं माते! नित तव कृपाते सु तब मैं ।।३६।।

इस संसारमें कितने एक जीव-लोकार्थघटकाः अर्थात् परोपकारी हैं और कितने जीव परलोकके अभिलाषी हैं परंतु हे अम्ब! यह जगन्नाथ लोक परलोक दोनोंका भार निरंतर आपमें रखकर आपकी कृपासे सुखपूर्वक सोता है ।।३६।।

भवत्या हि व्रात्याधमपतितपाखण्डपरिषत्-
परित्राणस्नेहः श्लथयितुमशक्यः खलु यथा ।।
ममाप्येवं प्रेमा दुरितनिवहेष्वम्ब जगति
स्वभावोऽयं सर्वैरपि खलु यतो दुष्परिहरः ।।३७।।

हे अम्ब ! भवत्या व्रात्याधमपतितपाखण्डपरिषत्परित्राणस्नेहः श्लथयितुं यथा अशक्यः खलु ! एवं ममापि दुरितनिवहेषु प्रेमा (श्लथयितुम्) अशक्यः । कुतः ? जगति सर्वैरपि अयं स्वभावः यतः दुष्परिहरः [अस्ति] ।। ३७ ।।

अधर्मी पाखण्डी अधम पतितादी नरनको ।
उधारो हो अम्बे ! प्रण तुम यथा छोड़ न सको ।।
मुझे भी पापोंमें सुरसरि ! तथा प्रेम जु घनो ।
रहे जाको जो हो छुटत न स्वभावा कहुं सुनो ।।३७।।

हे अम्ब ! व्रात्य अर्थात् संस्कारहीन और अधम और पतितोंकी जो है परिषत् (सभा) ताके रक्षण और उद्धारमें निश्चय करके तुम्हें प्रेम है । जिस प्रकार उस स्नेहको तोड़ नहीं सकती हो वैसा ही पापोंके समूहमें मेरी भी प्रीति है इस कारण मैं भी अशक्त हूं क्योंकि संसारके विषे यह स्वभाव सबों करके दुष्परिहर है अर्थात् स्वभावको कोई पलट नहीं सकता ।।३७।।

प्रदोषान्तर्नृत्पुरमथनलीलोद्धतजटान्तरा-
भोगप्रेङ्खल्लहरिभुजसन्तानविधुतिः ।
बिलक्रोडक्रीडज्जलडमरुडंकारसुभगस्ति-
रोधत्तां तापं त्रिदशतटिनीताण्डवविधिः ।।३८।।

प्रदोषान्तर्नृत्यत्पुरमथनलीलोद्धतजटान्तराभोगप्रेंख-
ल्लहरिभुजसंतानविधुतिः बिलक्रोडक्रीडज्जलडमरुडं-
कारसुभगः त्रिदशतटिनीताण्डवविधिः तापं तिरोधत्ताम्
॥३८॥

उठैं ऊंची सांझै सहज शिव नाचैं जब जटा।
हिलैं तासों सोही लहरि तहं मानो भुज छटा॥
बिलक्रीडा जो हैं डमरु धुनि सोहैं बजतही।
मिटावैं तापोंको सुरतटिनिका ताण्डव यही ॥३८॥

प्रदोषकालमें नृत्यकारी महादेवजीकी लीलासे जो जटाकी लहरें उठती हैं उनमेंसे श्रीगंगाजीकी लहरें चलती हैं वेही मानो भुजा हैं और उनका फैलना मानों तालस्वरका दिखाना है और बिलक्रोड अर्थात् नीचास्थान वा पहाड़ी कन्दराओंमें घूमि घूमिके उछल उछलके जलके गिरनेका जो शब्द होता है वही मानों डमरुका मनोहर टङ्कोर है। इस प्रकार श्रीगंगाजीके नाचका है जो विधान सो मेरे तापको नष्ट करै ॥३८॥

सदैव त्वय्येवार्पितकुशलचिन्ताभरमिमं
यदि त्वं मामम्ब त्यजसि समयेऽस्मिन्सुविषमे।
तदा विश्वासोऽयं त्रिभुवनतलादस्तमयते
निराधारा चेयं भवति खलु निर्व्याजकरुणा ॥३९॥

हे अम्ब! सदैव त्वय्येवार्पितकुशलचिन्ताभरम् इमं मां सुविषमे अस्मिन् समये यदि त्वं त्यजसि तदा अयं विश्वासः त्रिभुवनतलात् अस्तम् अयते। इयं निर्व्याजकरुणा निराधारा भवति खलु ॥ ३९ ॥

सदा तेरेपै ही सब कुशलचिन्तार्पित करी।
अरी मा! तू मोकों कुसमय तजै जो अवहि री॥
भरोसा तेरा ये त्रिभुवन रहैगा तब किसे।
निराधारा होवे अकपट दया भी कहं जिसे॥३९॥

हे अम्ब! कुशल जो मोक्ष है उसकी चिन्ताका भार मैंने तुम्हारे विषे अर्पित कर दिया अब जो आप मुझ ऐसेको इस अंतकालमें त्यागती हो तो पतित उद्धारणरूपी विश्वास तीनों लोकोंसे उठ जायगा और आपकी जो निर्व्याज अर्थात् निष्कपट करुणा है वह निश्चय कर निराधार हो जायगी॥३९॥

कपर्दादुल्लस्य प्रणयमिलदर्द्धाङ्गयुवतेः
पुरारेः प्रेङ्खन्त्यो मृदुलतरसीमन्तसरणौ।
भवान्याः सापत्न्यस्फुरितनयनं कोमलरुचा
करेणोत्क्षिप्तास्ते जननि विजयन्तां लहरयः॥४०॥

हे जननि! प्रणयमिलदर्द्धांगयुवतेः पुरारेः कपर्दात् उल्लस्य भवान्याः मृदुलतरसीमन्तसरणौ प्रेंखन्त्यः कोमलरुचा करेण सापत्न्यस्फुरितनयनं यथा स्यात्तथा उत्क्षिप्ताः ते लहरयः विजयन्ताम्॥४०॥

अनंगारी जाके रहत तिय आधे अंग मिली।
जटासे जो आई उछरि जब सीमंत सुथली॥
हटाती हाथोंसे तव सवत गौरी क्षुभित हो।
तरंगा हे गंगा! विजय वह तेरी नित लहो॥४०॥

हे जननि! प्रीतिपूर्वक जो श्रीपार्वतीजी शिवजीके अंगमें मिली हुई हैं उनकी सीमन्तसरणि अर्थात् मांगमें जब तुम्हारी लहरें श्रीमहादेवजीके

जटाजूटसे निकल कर पड़ती हैं तो श्रीपार्वतीजी अपने हाथोंसे झिटक देती हैं और जब श्रीपार्वतीजीकी आंखें सौतिया झारसे फरकने लगती हैं और कान्ति अरुण अर्थात् लाल हो जाती है वेही तुम्हारी लहरें मेरे पापके शमन करनेमें समर्थ होय ।।४०।।

प्रपद्यन्ते लोकाः कति न भवतीमत्र भवती-
मुपाधिस्तत्रायं स्फुरति यदभीष्टं वितरसि ।
शपे तुभ्यं मातर्मम तु पुनरात्मा सुरधुनि
स्वभावादेव त्वय्यमितमनुरागं विधृतवान् ।।४१।।

हे मातः । अत्र भवतीं त्वां कति लोकाः न प्रपद्यन्ते परंतु तत्रायम् उपाधिःस्फुरति यत् अभीष्टं वितरसि । हे अनघे ! (अहं तु) तुभ्यं शपे मम तु पुनः अयम् आत्मा स्वभावादेव त्वयि अमितम् अनुरागं विधृतवान् ।।४१।।

किते ना आते हैं जननि ! नर तेरे शरणमें ।
करी इच्छा पूरी तहं यह उपाधी गिनतमें ।।
कहौं सांचो एहो ! सुरधुनि ! तिहारी शपथ है ।
तिहारेमें मेरो मन सहज प्रीती करत है ।।४१।।

हे अम्ब ! इस संसारमें रक्षा करती हुई आपके निकट न जाने कितने एक लोग प्राप्त होते हैं अर्थात् सभी प्राप्त होते हैं, परंतु जिनका जो अभीष्ट फल आप देती हो वहां यही एक बड़ी उपाधि कारण है, परंतु हे सुरधुनि निर्मलरूपे ! मैं आपकी शपथ अर्थात् सौगंधसे कहता हूं कि, मेरी यह आत्मा स्वभावहीसे तुम्हारे विषे अमित अनुरागको धारण किये हैं ।।४१।।

ललाटे या लोकैरिह खलु सलीलं तिलकिता
तमो हन्तुं धत्ते तरुणतरमार्तण्डतुलनाम् ।
विलुम्पन्ती सद्यो विधिलिखितदुर्वर्णसरणिं
त्वदीया सा मृत्स्ना मम हरतु कृत्स्नामपि शुचम् ४२।

हे मातः ! लोकैः इह ललाटे सलीलं यथा स्यात्तथा तिलकिता सती तमो हन्तुं तरुणतरमार्तण्डतुलनां धत्ते सद्यः विधिलिखितदुर्वर्णसरणिं विलुंपन्ती त्वदीया मृत्स्ना मम कृत्स्नामपि शुचं हरतु ।।४२।।

लगाते ही माथे सब नरनके जो सहज ही ।
हरै है अज्ञाना तम रवि समाना छिन तिही ।।
मिटाती है वेगै विधिलिखित दुर्वर्णअवली ।
विनाशै शोकोंको मम वह तिहारी रज भली ।।४२।।

हे जननि गंगे ! तेरी वह मृत्स्ना अर्थात् मिट्टी मेरे संपूर्ण शुच कहे शोचको हरै जो संसारके बीच लोगोंके मस्तकमें लीला सहित तिलक होकर अविद्यारूपी अंधकारके निवारणमें प्रचंडसूर्यकी उपमाको धारण करती है और ब्रह्माकी लिखी हुई कर्मरेखाको तत्काल मेट देती है ।।४२।।

नरान्मूढांस्तत्तज्जनपदसमासक्तमनसो
हसन्तः सोल्लासं विकचकुसुमव्रातमिषतः ।
पुनानाः सौरभ्यैः सततमलिनो नित्यमलिनान्
सखायो नः संतु त्रिदशतटिनीतीरतरवः ।।४३।।

तत्तज्जनपदसमासक्तमनसः अत एव मूढान् नरान्

विकचकुसुमव्रातमिषतः सोल्लासं हसन्तः सततं नित्य-
मलिनान् अलिनः सोरभ्यैः पुनानाः त्रिदशतटिनी-
तीरतरवः न सखायः सन्तु ।।४३।।

नरो मूढोंका जो मन लगरहा देश अपने।
हसैं हैं जो उन्कों कुसुमविकसेके मिस घने ।।
मलीने भौंरोंको सुरभिन पुनीता करत जो।
सखा होवें मेरे सुरतटिनि तेरे विटप सो ।।४३।।

त्रिदशतटिनी अर्थात् श्रीगंगातीरके वे वृक्ष मेरे मित्र होवें जो खिले हुए फूलोंके मिषसे उन मूढ़ मनुष्योंको हँस रहे हैं जिनका मन देशोंके विषे लग रहा है और नित्य मलिनसे भी मलिन जो भ्रमर हैं उनको अपने पुष्प सुगंधसे पवित्र करते हैं उनके साथ मेरी मित्रता हो अर्थात् मेरा भी श्रीगंगातटमें वास होय ।।४३।।

यजन्त्येके देवान्कठिनतरसेवांस्तदपरे
वितानव्यासक्ता यमनियमरक्ता कतिपये ।
अहं तु त्वन्नामस्मरण कृतकामस्त्रिपथगे
जगज्जालं जाने जननि तृणजालेन सदृशम् ।।४४।।

हे त्रिपथगे ! एके कठिनतरसेवान् देवान् यजन्ति तदपरे वितानव्यासक्ताः संति । कतिपये यमनियम-रक्ताः संति । हे जननि ! अहन्तु त्वन्नामस्मरणकृत-कामः सन् तृणजालेन सदृशं जगज्जालं जाने ।।४४।।

किते ध्यावैं देवा करि कठिन सेवा रु अपरैं।
करैं हैं यज्ञोंको यम नियम केते नर धरैं ।।

तजे सारे कामा नितहिं तव नामा जपत हौं।
जगज्जाला माला जननि! तृणजाला गिनत हौं ॥४४॥

हे त्रिपथगे! अर्थात् तीन पथ होकर गमन करनेवाली! इस संसारमें कितने एक नये उन देवताओंको पूजते हैं, कि जिनकी अतिकठिन सेवा है और कितने 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम: विधिसे उस कर्ममें लगे हैं जो नैवेद्यादिदान करके सिद्ध होता है और कितने एक मनुष्य यम नियमआदि अष्टांगयोगको साधते हैं सो हे जननि! मैं तुम्हारे नामका स्मरण करके जगद्रूपी जालको, तृणजाल के समान समझता हूं ॥४४॥

अविश्रान्तं जन्मावधि सुकृतकर्मार्जनवतां
सतां श्रेय: कर्तुं कति न कृतिन: सन्ति विबुधा: ॥
निरस्तालम्बानामकृतसुकृतानां तु भवती
विनामुष्मिंल्लोके न परमवलोके हितकरम् ॥४५॥

अविश्रातं यथा स्यात्तथा जन्मावधि सुकृतकर्मार्जिन-वतां सतां श्रेय: कर्तु कृतिन: विबुधा: कति न संति। परंतु निरस्तालम्बानाम् अकृतसुकृतानां च भवतीं विना अमुष्मिन् लोके परं हितकरं-न अवलोके ॥ ४५ ॥

सदा कीन्हें धर्मा जिन जनम लीन्हें जबहिं सो।
किते ना देवा हैं करन हित भारी तिनहिं को॥
निरालम्बा किम्वा नहिं सुकृत कीजे जिन कहीं।
विना तेरे अम्बा! अपर अवलम्बा न तिनहीं ॥४५॥

हे जननि! जिन लोगोंने जन्मसे लेकर लगातार कृत कर्मोंको इकट्ठा किया है उन सज्जनोंके कल्याण करनेके हेतु न जाने कितने एक देवता हैं परंतु जिन्होंने सुकृत नाम पुण्यको कभी

नहीं किया उन अवलम्बरहितोंका हितकारी इस लोक और पर-लोकमें सिवाय आपके और कोई नहीं है अर्थात् आपही हो ।।४५।।

पयः पीत्वा मातस्तव सपदि यातः सहचरै-
र्विमूढैः संरन्तुं क्वचिदपि न विश्रान्तिमगमम् ।
इदानीमुत्सङ्गे मृदुपवनसञ्चारशिशिरे
चिरादुन्निद्रं मां सदयहृदये शायय चिरम् ।।४६।।

हे मातः ! सपदि तव पयः पीत्वा विमूढैः सहचरैः संरन्तुं यातः क्वचिदपि विश्रान्तिं न अगमम् । इदानीं चिरात् उन्निद्रं मां हे सदयहृदये ! मृदुपवनसंचार-शिशिरे उत्संगे चिरं शायय ।।४६।।

पियो वारी तेरो तिहिं छिन यहांतें चल दियो ।
विमूढोंके साथे कबहुं कित विश्राम न लियो ।।
तिहारी गोदी पै मृदु पवनसे शीतल महा ।
उनींदाहूं मोको न करुण सुवालै चिर तहां ।।४६।।

हे मातगंगे ! एकवार आपके जलको पीकर तुरंत उन मूढ़ साथियोंके साथ जो अपने हितको नहीं जानते क्रीडा करनेको गया परंतु वहां कभी क्षणमात्रके हेतु भी सुख न पाया, अब इस समय हे दयालुहृदये ! मुझ चिर-कालके उन्निद्र अर्थात् अविद्यान्धकारव्याप्तको मन्दपवन करके शीतल किये हुए अपनी गोदमें निरंतर सुवाइये अर्थात् अनन्तसुखसे प्रसन्न कीजिये ।४६।

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नगगणैः ।।

न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्यायं सुरधुनि समुद्धारसमयः ।।४७।।

हे सुरधुनि ! द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं बधान । पुनः किरीटे बालेन्दुं पन्नगगणैः सह नियमय । इतरजनसाधारणधिया त्वं हेलां न कुर्याः । अयं जगन्नाथस्य समुद्धारसमयः अस्ति ।।४७।।

कटीपै बांधो री दृढ रुचिर श्वेताम्बर अभी ।
सुधारो सर्पोंसे शिर मुकुटमें बाल शशि भी ।।
न त्यागो मेरेको समुझि जन साधारण न मैं ।
अहो ! है मेरो यै सुरसरि समुद्धारण समैं ।।४७।।

हे सुरधुनि ! आप शीघ्र अपने शोभायमान परिकर अर्थात् कटि वस्त्रको दृढ करके बांधो और किरीटमें तरुण चंद्रमा लगाके पन्नग गणों करके सजाओ साधारण बुद्धिसे बिराना जन समझ मुझे त्याग मत करो क्योंकि, जगन्नाथके उद्धारका समय यही है ।।४७।।

शरच्चन्द्रश्वेतां शशिशकलशोभालमुकुटां
करैः कुम्भाम्भोजे वरभयनिरासौ च दधतीम् ।
सुधाधाराकाराभरणवसनां शुभ्रमकर-
स्थितां त्वां ये ध्यायंत्युदयति न तेषां परिभवः ।।४८।।

शरच्चन्द्रश्वेतां शशिशकलशोभालमुकुटां करैः कुम्भाम्भोजे वरभयनिरासौ च दधतीं सुधाधाराकाराभरणवसनां शुभ्रमकरस्थितां त्वां ये ध्यायंति तेषां परिभवः न उदयति ।।४८।।

किरीटी भी धौरी शरदशशि गौरी द्युति लसे ।
विराजैं हाथोंमें अभय वर औ कंजकलसे ॥
सुधा जैसे धारैं वसन गहनें मीन थित हों ।
तुम्हैं जो यों ध्यावैं परिभव न पावैं वह कहीं ॥४८॥

शरत्कालके चंद्रमाके समान श्वेतवर्ण और कला सहित चंद्रमाकरके शोभायमान मुकुट और चारों भुजाओं करके कमलको धारण किये और अमृतधाराके समान आभरण और वस्त्रको पहिने और उज्ज्वल रंगके मकरपर विराजमान जो आपका रूप है उसका जो ध्यान करते हैं उनका परिभव नाम विनाश नहीं उदय होता अर्थात् वे विनाशरहित हो जाते हैं।४८।

दरस्मितसमुल्लसद्वदनकान्तिपूरामृतै-
र्भवज्वलनभर्जितानंनिशमूर्जयन्ती नरान् ।
चिदेकमयचन्द्रिकाचयचमत्कृतिं तन्वती
तनोतु मम शं तनोः सपदि शंतनोरङ्गना ॥४९॥

चिदेकमयचन्द्रिकाचयचमत्कृतिं तन्वती दरस्मितसमुल्लसद्वदनकान्तिपूरामृतैः भवज्वलनभर्जितान् नरान् अनिशम् ऊर्जयन्ती शंतनोः अंगना सपदि मम तनोः शं तनोतु ॥४९॥

हंसैं जब प्रकाश हो मुखछवी सुधारूपही ।
तपे जु भवतापसे नरन सो जियावैं सही ॥
चिदेकमय चांदनी दुतिरही चहूं फैलही ।
करो शुभसदा हमैं रमणि शंतनोकी वही ॥४९॥

शंखके समान उज्ज्वलतर मंदहास्य करके शोभायमान मुखारविन्द है कि जिसकी कान्तिसे परिपूर्ण अमृतरूपी कटाक्षोंके द्वारा भवरूपी आगसे

भुने हुए मनुष्योंको शीतल करती हो ऐसी आप शन्तनु नाम शिव किम्ब शिवांशसे उत्पन्न राजाकी अंगना मेरे कल्याणको निरंतर बढ़ावो ।।४९।।

मंत्रैर्मीलितमौषधैर्मुकुलितं त्रस्तं सुराणां गणैः
स्रस्तं सान्द्रसुधारसैर्विगलितं गारुत्मतैर्ग्रावभिः ।
वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि
त्वं तापं शमयाधुना मम भवव्यालीवलीढात्मनः ।।

हे वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि! मंत्रैः मीलितम्, औषधैः मुकुलितम्, सुराणां गणैः त्रस्तम्, सान्द्रसुधारसैः स्रस्तम्, गारुत्मतैः ग्रावभिः विगलितम्, त्वम् अधुना भवव्यालीवलीढात्मनः मम तापं शमय ।।५०।।

मंत्रा मीलित व्यर्थ औषधि भई भीता जु देवावली।
नीचेही गिरिगो पियूष रु मनी हा! गारुडीया गली ।।
धोये तू पद कालियादमनके देवापगा मात री!
काटचो है भवव्याल मोहि अब तू या तपको नाश री ।।५०।।

मेरी आत्मा भवरूपी सर्पके विषदंशसे ग्रसी गई है वह कैसी विषताप है कि मंत्रोंके पुरश्चरणसे इकट्ठा हो गया है और औषधोंके सेवनसे कमलकी कलीके समान बन गया है और पंचयज्ञादि देवताओंकी उपासनासे डर गया है और वनस्पतिके क्वाथरूपी रसके सेवनसे सुखाया गया है और गरुड़ोक्त मंत्र और इन्द्रनीलमणियों करके टुकड़ेकर दिये गये हैं सो हे स्वर्गलोककल्लोलिनि गंगे! आप उस विषजनित तापको शीघ्र मिटाओ, क्योंकि अपनी लहरी करके उस कृष्णपदको धोया अर्थात् निर्विष किया है जो पद कालिया सर्पके शिरपर रक्खा गया था ।।५०।।

द्यूते नागेन्द्रकृत्तिप्रमथफणिगणश्रेणिनन्दी-
न्दुमुख्यं सर्वस्वं हारयित्वा स्वमथ पुरभिदि
द्राक् पणीकर्तुकामे ।। साकूतं हैमवत्या मृदु
लहसितया वीक्षितायास्तवाम्ब व्यालोलोल्ला-
सिवल्गल्लहरिनवघटाताण्डवं नः पुनातु ।।५१।।

हे अम्ब ! द्यूते नागेन्द्रकृत्तिप्रमथफणिगणश्रेणि-नन्दीन्दुमुख्यं सर्वस्वं हारयित्वा अथ पुरभिदि द्राक् स्वं पणीकर्तुकामे सति मृदुलहसितया हैमवत्या साकूतं वीक्षितायाः तव व्यालोलोल्लासिवल्गल्लहरिनवघटा-ताण्डवं नः पुनातु ।।५१।।

जूआमें हस्तिछाला प्रथम मणि फनी इन्दु नन्दी गणाऊं ।
हारे सारे पुरारी तव स्वतनु चहे दावमाहीं लगाऊं ।।
कीया है जो तवै तू, कपटहँसि जवै श्रीउमाने निहारा ।
शुद्धा मोको करै मा ! लहरि नटघटी नृत्य वोही तिहारा ।।५१।।

किसी समय द्यूतक्रीडाके समय श्रीपार्वतीजीने पण कहे दांवमें महादेवजीका सर्वस्व धन अर्थात् गजचर्म और सर्पोके गण और नंदीश्वर वृषभ और चंद्रमा आदिको जीत लिया इसके अनंतर जब शिवजी अपने शरीरको बाजी लगाने लगे तब मृदुल हास्य करके श्रीपार्वतीने शिवजीको दांवमे जीतनेसे उनके साथ तुम्हें भी अपने अधीन होनेका अनुमान करके अभिमानसहित टेढ़ी दृष्टिसे निरीक्षण किया तो हे अम्ब ! कोपपूरित होनेसे तुम्हारी लहरें वेगसे ऊपरको चलने लगीं उन चंचल लहरीरूपी नवघटाका जो नृत्य बन गया सो मुझे पवित्र करे ।।५१।।

विभूषितानंगरिपूत्तमाङ्गा
सद्यः कृतानेकजनार्तिभङ्गा ।।
मनोहरोत्तुंगचलत्तरङ्गा
गंगा ममाङ्गान्यमलीकरोतु ।।५२।।

विभूषितानङ्गरिपूत्तमांगा सद्यः कृतानेकजनार्तिभङ्गा मनोहरोत्तुङ्गचलत्तरङ्गा गंगा मम अंगानि अमलीकरोतु ।।५२।।

बसौ सदा शीश स्मरारि अंगा । करो अनेकों जन दुःख भंगा ।।
मनोहरा उच्च चलैं तरंगा । अंगा हमारे कुरु शुद्ध अंगा ।।५२।।

जो गंगा अनंगरिपु अर्थात् महादेवजीके शिरको शोभायमान किये हैं और सद्यः कहे तुरंत अनेक जनोंकी पीडाको भंग करती हैं और मदकी हरनेवाली सुंदर सुंदर अतिऊंची तरंगें हैं जिनकी सो गंगा मेरे अशुभको शमन करैं ।।५२।।

इमां पीयूषलहरीं जगन्नाथेन निर्मिताम् ।
यः पठेत्तस्य सर्वत्र जायन्ते सर्वसम्पदः ।।५३।।

इति श्रीमत्पंडितराजजगन्नाथरायकृता
श्रीगङ्गालहरी सम्पूर्णा ।।

अन्वयः—जगन्नाथेन निर्मिताम् इमां पीयूषलहरीं यः पठेत् तस्य सर्वत्र सर्वसंपदः जायन्ते ।।५३।।

या पीयूषलहरिको जगन्नाथ रची अहै।
जो पढ़ै सो सब थलै सुख संपत्तिको लहै ।।५३।।

जगन्नाथकी बनाई हुई पीयूषलहरीको जो कोई पढ़े उसको सर्वत्र संपूर्ण संपदा प्राप्त होयँ ।।५३।।

इति गंगालहरी-अन्वयभाषानुवाद तथा समश्लोकी
हिन्दीपद्यसहिता समाप्ता ।

☆

हमारे प्रकाशनों की अधिक जानकारी व खरीद के लिये हमारे निजी स्थान :

खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
९१/१०९, खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७ वी खेतवाडी बॅक रोड कार्नर,
मुंबई - ४०० ००४.
दूरभाष/फैक्स-०२२-२३८५७४५६.

खेमराज श्रीकृष्णदास
६६, हडपसर इण्डस्ट्रियल इस्टेट,
पुणे - ४११ ०१३.
दूरभाष-०२०-२६८७१०२५.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
श्रीलक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस बिल्डींग,
जूना छापाखाना गली, अहिल्याबाई चौक,
कल्याण, जि. ठाणे, महाराष्ट्र - ४२१ ३०१
दूरभाष - ०२५१-२२०९०६१.

खेमराज श्रीकृष्णदास
चौक, वाराणसी (उ.प्र.) २२१ ००१.
दूरभाष - ०५४२-२४२००७८

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS